शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

: संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील

दिसम्बर : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, मंगसिर, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ८

संतों के हृदय में जिनेन्द्रदेव विराजते हैं

'नियमसार' में टीकाकार मुनिराज अपने हृदय में जिनेन्द्र भगवान को स्थापित करके मंगलाचरण करते हुए कहते हैं कि 'हे जिनेन्द्रदेव! आपके समान पूर्ण वीतरागी सर्वज्ञदेव जब मेरे हृदय में विराजते हैं, तब मैं अन्य रागी अज्ञानी प्राणियों को क्यों नमन करूँ? हे नाथ! मैंने तो अपने हृदय में आपकी ही स्थापना की है; आप मेरे हृदय में होते हुए मैं दूसरों को क्यों नमस्कार करूँ? [-प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

[१७६]

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

पाठकों को सूचना

मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण छपकर तैयार हो गया है, जिन्हें चाहिये शीघ्र मंगा लेवें। मूल्य १) रु० है। पोस्टेज अलग।

प्रेस में छप रहे हैं

मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें, द्वितीय भाग
समयसार हरिगीतिका (हिन्दी पद्य में)
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला, द्वितीय भाग

पाठक गण प्रतीक्षा करें

सूचना

श्रीमत् भगवत् श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत-श्री नियमसार शास्त्र संस्कृत टीका सहित सर्वोत्तम संस्करण छपेगा। मूल्य लागत से भी एक रुपया कम लेने का है, अब प्रेस में है, छपने पर सूचित करेंगे।

आत्मधर्म

: संपादक : **रामजी माणेकचंद दोशी** वकील

दिसम्बर : १९५९ ☆ वर्ष पन्द्रहवाँ, मंगसर, वीर नि०सं० २४८६ ☆ अंक : ८

छह मास में अवश्य आत्म प्राप्ति होगी

[नागपुर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

(चैत्र कृष्णा १४-१५)

भगवान सीमंधर परमात्मा वर्तमान में सर्वज्ञ-तीर्थंकररूप से विदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। इस भरतक्षेत्र में लगभग दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्यदेव हुए हैं.... उन्होंने तीर्थंकर के विरह से सीमंधर परमात्मा का ध्यान किया और सदेह विदेह में जाकर सीमंधर परमात्मा के साक्षात् दर्शन किये, तथा आठ दिन तक उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण किया। उसका साक्षी कौन ?—तो कहते हैं कि आत्मा ही उसका साक्षी है... भगवान की वाणी सुनकर वे भरतक्षेत्र में आये और उन आचार्यदेव ने समयसारादि महान शास्त्रों की रचना की; उन शास्त्रों में आत्मानुभव का अलौकिक वर्णन किया है। आचार्यदेव ने विदेहक्षेत्र में जाकर जगत को समयसार की भेंट की....

वह समयसार आत्मा का शुद्ध स्वरूप बतलाता है। कैसा है आत्मा का स्वरूप ?—

''चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो''

सिद्ध भगवान जैसे, देहरहित, विकाररहित, परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दस्वरूप हैं, वैसा ही मेरे आत्मा का स्वभाव है;—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा अपने आत्मा का अनुभव करता है। अभी वर्तमान दशा में राग है, किन्तु उस राग जितना ही आत्मा नहीं है; सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, राग से पार ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव करता है।—किस प्रकार ?—तो कहते हैं कि भूतार्थदृष्टि से अथवा शुद्धनय के अवलम्बन से। रागादिभाव क्षणिक अवस्था में विद्यमान हैं, किन्तु आत्मा के यथार्थ स्वभाव की दृष्टि से देखने पर उसमें उन रागादि भावों का अभाव है; इसलिये वे अभूतार्थ हैं और आत्मा का सहज चैतन्यस्वभाव ही भूतार्थ है। ऐसे स्वभावरूप से आत्मा का अनुभव करना, सो अपूर्व धर्म है।

आत्मा के ऐसे शुद्धस्वभाव की बात जीव ने कभी रुचिपूर्वक नहीं सुनी है। भगवान के या

ज्ञानी के निकट अनंत बार गया और शुद्ध आत्मा की बात कानों में पड़ी, किन्तु उस समय राग की रुचि रखकर सुना है, इसलिये वास्तव में उसने राग कथा का ही श्रवण किया है, शुद्ध आत्मा की कथा उसने नहीं सुनी। यथार्थ श्रवण तो उसी को कहते हैं कि—जैसा शुद्ध आत्मा भगवान ने कहा, वैसा ही लक्ष में लेकर उसकी रुचि करे।

आचार्य भगवान कहते हैं कि—अरे जीव! जैसा शुद्ध आत्मा हम कहते हैं, वैसा लक्ष में लेकर उसका अनुभव करे तो तेरा आत्मा अशरीरी परमात्मा हो जायेगा।

इस समयसार शास्त्र में कुल ४१५ गाथाएँ हैं, उनमें से यह ७२ वीं गाथा पढ़ी जा रही है। भेदज्ञान का जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! भेदज्ञान से ही बंध का निरोध हो जाता है—सो किस प्रकार? ऐसे शिष्य को उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सुनो!—

ज्ञात्वा आसवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥७२॥

देखो, यह चैतन्य का अपूर्व शांतरस बतलानेवाली वीतराग की वाणी।

वचनामृत वीतराग के... परम शांतरसमूल।

वीतरागी संतों की वाणी चैतन्य के परम शांतरस का पान कराके अनादिकालीन भव-रोग का नाश कराती है। वीतराग की वाणी तो विषय कषाय का रस छुड़ाकर चैतन्य के शांत रस का अनुभव कराती है।

धर्मात्मा-ज्ञानी-संतों के निकट जाकर जो जीव, शुद्ध आत्मा के अनुभव के अतिरिक्त लक्ष्मी-पुत्रादि की आशा करता है, वह जीव हलवाई की दुकान पर जाकर जहर माँगनेवाले की भाँति अज्ञानी है। यहाँ तो जिसे आत्मबोध की लगन लगी है, भेदज्ञान करके जो शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहता है, जिसके अंतर में संसार सम्बन्धी अन्य किसी भावना का शल्य नहीं है; —ऐसा शिष्य, आचार्य भगवान के निकट जाकर उसी की बात पूछता है और आचार्य भगवान उसकी पात्रता देखकर करुणापूर्वक उसे भेदज्ञान का स्वरूप समझाते हैं।

आत्मा तो चैतन्यस्वरूप स्व-पर का ज्ञाता है और रागादि भाव अचेतन हैं; वे स्व-पर को नहीं जानते। राग स्वयं अपने को नहीं जानता; राग को जाननेवाला तो उससे भिन्न है। राग आकुलतारूप है और चैतन्यस्वभाव शांत अनाकुल है; इसलिये राग मैं नहीं हूँ; राग को जाननेवाला जो ज्ञान है, सो मैं हूँ; राग के साथ मेरी एकता नहीं है किन्तु ज्ञान के साथ ही मेरी एकता है—इसप्रकार भेदज्ञान करके अंतर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव की ओर ढलता है, उसी क्षण राग से भिन्न

अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है और रागादि परभाव पृथक् हो जाते हैं। ऐसा भेदज्ञान ही बंधन से छूटने का उपाय है। ऐसे उपाय के अलावा अन्य किसी प्रकार बंधन से छुटकारा नहीं हो सकता; इसलिये प्रथम ऐसे भेदज्ञान का अभ्यास करना चाहिये।

❀ ❀ ❀

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने साक्षात् तीर्थंकर सीमंधर परमात्मा की वाणी सुनी थी और स्वयं आत्मानन्द के साधन में लग गये थे। वे इस समयसार में कहते हैं कि—भगवान चैतन्यमूर्ति आत्मा, पवित्र है और रागादि विकारी भाव, मलिन हैं; चैतन्यमूर्ति आत्मा उन रागादि से पृथक है।—इसप्रकार भेदज्ञान करके शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्मा की ओर ढलते ही रागादि परभाव पृथक् रह जाते हैं। शुद्ध आत्मा अपने स्वानुभव से प्रकाशमान है। अंतर अनुभव द्वारा शुद्ध-आत्मा की प्राप्ति से ही कर्मों का संवर तथा निर्जरा होती है और उस शुद्ध आत्मा का अनुभव भेदज्ञान से ही होता है; इसलिये:—

भावयेत भेदविज्ञानम् इदं अच्छिन्नधारया।
तावत् यावत् परात्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम्॥

इस भेदज्ञान को तब तक अच्छिन्नधारा से भाना चाहिये कि जब तक ज्ञान, ज्ञान में ही स्थिर हो जाये।

यह एक भेदज्ञान ही सिद्धि का उपाय है; उसे बतलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन॥

अभी तक जो अनंत जीव सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, उन सबने भेदज्ञान से ही सिद्धि प्राप्त की है; और जो जीव बंधे हैं, वे सब भेदज्ञान का अभाव होने से ही बंधे हैं।—इसप्रकार भेदज्ञान की सिद्धि का उपाय है।

कोई पूछे कि ऐसा भेदज्ञान कब होता है?—उसमें कितना समय लगता है?—तो आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि हे भाई! जगत का कोलाहल छोड़कर तथा आत्मा का अर्थी बनकर यदि तू अंतर में शुद्धात्मा के अनुभव का प्रयत्न करे तो अंतर्मुहूर्त में ही उसकी प्राप्ति हो जायेगी। किसी जीव को कदाचित् बहुत कठिन मालूम हो, तब भी अधिक से अधिक छह महीने लगेंगे। आत्मा की सच्ची लगनपूर्वक जो जीव निरंतर अभ्यास करेगा उसे—जैसा कि हम कहते हैं—छह मास में अवश्य ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होगी।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[४७]

सम्बन्धशक्ति

[अंक नं० १७५ से आगे]

इस जगत में मेरा कौन है और किसके साथ मुझे परमार्थ सम्बन्ध है—उसके भान बिना, पर को अपना मानकर, पर के साथ सम्बन्ध जोड़कर जीव, संसार में भटक रहा है। आत्मा का 'स्व' क्या है और वास्तविक सम्बन्ध किसके साथ हैं—वह इस 'सम्बन्धशक्ति' में बतलाया है। यह सम्बन्धशक्ति भी आत्मा का पर के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती, किन्तु अपने में ही स्व-स्वामी सम्बन्ध बतलाकर पर के साथ का सम्बन्ध तुड़वाती है;—इसप्रकार पर से भिन्न आत्मा को बतलाती है। आत्मा ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वरूप अपने भाव का ही स्वामी है, और वे भाव ही आत्मा का स्व हैं,—ऐसा जानकर, स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़ना और पर के साथ सम्बन्ध तोड़ना—ऐसा एकत्व-विभक्तपना, वह समयसार का तात्पर्य है तथा उस एकत्व-विभक्तपने में ही आत्मा की शोभा है।

यह भगवान आत्मा अपनी ज्ञानक्रिया में अनंत शक्ति से उल्लसित हो रहा है; उसके ज्ञानमात्र भाव में अनंत धर्म एक साथ परिणमित हो रहे हैं, इसलिये आत्मा अनेकान्तमूर्ति है। ऐसे अनेकान्तमूर्ति आत्मा की ४७ शक्तियों का श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अद्भुत वर्णन किया है। उनमें से ४६ शक्तियों का भावपूर्ण सरस विवेचन हो चुका है; अब अन्तिम सम्बन्धशक्ति है। 'स्वभावमात्र स्वस्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति आत्मा में है।'

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्दरूप जो अपना भाव है, वही आत्मा का स्वधन है और उसी का आत्मा स्वामी है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ आत्मा का स्व नहीं है और आत्मा उसका स्वामी नहीं

है। देखो, यह सम्बन्धशक्ति! सम्बन्धशक्ति भी आत्मा का पर के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती, किन्तु पर के साथ का सम्बन्ध तुड़वाकर स्व में एकता कराती है;—इसप्रकार आत्मा के एकत्व-विभक्त स्वरूप को बतलाती है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा ऐसा अनुभव करता है कि—

''हुं अेक शुद्ध सदा अरूपी ज्ञान-दर्शनमय खरे,
कंई अन्य ते मारुं जरी परमाणुमात्र नथी अरे!''

यह एक शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय सदा अरूपी आत्मा ही मैं हूँ; वही मेरा स्व है, इसके अतिरिक्त जगत में अन्य कुछ—एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। स्वयं अपने आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख होकर स्व में एकतारूप से परिणमित हुआ, वहाँ किसी भी परद्रव्य के साथ किंचित् सम्बन्ध भासित नहीं होता।

ऐसे परसम्बन्ध से रहित शुद्ध आत्मा को देखना ही धर्म है, वही जैनशासन है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रभु कहते हैं कि—जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट (अर्थात् कर्म बन्धनरहित तथा सम्बन्धरहित), अनन्य, अविशेष तथा नियत देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है; ''जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठ... पस्सदि जिणसासणं सव्वं...'' जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पाँच भावों स्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है... देखो, आचार्य भगवान स्पष्ट कहते हैं कि—पर के सम्बन्ध से रहित शुद्ध आत्मा की अनुभूति ही जैनधर्म है। वास्तव में आत्मा का स्वभाव, राग के भी सम्बन्ध से रहित है। जो जीव अपने आत्मा को कर्म सम्बन्धवाला और विकारी ही देखता है किन्तु कर्म के सम्बन्ध से रहित तथा रागादि रहित ऐसे अपने शुद्धस्वभाव को नहीं देखता, उसने जिनशासन को नहीं जाना है और उसके आत्मा में जैनधर्म प्रगट नहीं हुआ है। ज्ञान-दर्शनस्वभाव ही मैं हूँ, तथा ज्ञान-दर्शन स्वभाव से भिन्न जो भाव हैं, वह मैं नहीं हूँ; वे सब मेरे स्वरूप से बाह्य हैं।—इसप्रकार ज्ञान-दर्शन स्वभाव में एकत्वरूप से तथा अन्य समस्त पदार्थों से विभक्तरूप से अपने आत्मा का अनुभव करना, सो जैनधर्म है। ऐसे आत्मा को जाने बिना सचमुच जैनत्व नहीं होता।

इस जगत में मेरा क्या है और किसके साथ मुझे परमार्थ सम्बन्ध है,—उसके भान बिना, पर को ही अपना मानकर जीव, संसार में भटक रहा है। परद्रव्य कभी अपना हो ही नहीं सकता; तथापि पर को अपना मानकर वह जीव, मोह के कारण दुःखी ही होता है। जो पर को पररूप जाने और स्व को ही स्व-रूप से जाने, वह निःशंकरूप से अपने स्वरूप में एकाग्रता से सुखी ही होगा।

दु:ख का मूल क्या है ?

—परद्रव्य को अपना मानना वह।

सुख का मूल क्या ?

—स्व-पर का भेदज्ञान करना वह।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन॥

जो जीव सिद्ध हुए हैं, वे भेदज्ञान से ही हुए हैं; जो जीव बद्ध हुए हैं, वे भेदज्ञान के अभाव से ही बद्ध हुए हैं।

भेदज्ञान क्या है—उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कहीं भी स्वामित्व माने तो उस जीव को भेदज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान है। धर्मी अपने आत्मा को कैसा ध्याते हैं ?—वह प्रवचनसार में कहते हैं—

नाहं भवामि परेषां न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेकः।
इति यो ध्यायति ध्याने स आत्मा भवति ध्याता॥१९१॥

''मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं'—इसप्रकार स्व-पर के परस्पर स्व-स्वामिसम्बन्ध को छोड़कर, 'शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ'—इसप्रकार अनात्मा को छोड़कर, आत्मा को ही आत्मारूप से ग्रहण करके, परद्रव्य से भिन्नत्व के कारण आत्मारूपी ही एक अग्र में (ध्येय में) चिन्ता को रोकता है... वह आत्मा वास्तव में शुद्धात्मा होता है।'' देखो, धर्मी जीव अपने आत्मा में से परद्रव्य के सम्बन्ध को हटा देता है और एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप से ही अपने आत्मा को ध्याता है। 'प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ; मात्र ज्ञायक होने से मेरा विश्व के साथ भी सहज ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण सम्बन्ध ही है; परन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बन्ध नहीं हैं; इसलिये मुझे किसी के प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है।' मोक्षाधिकारी जीव ऐसे ज्ञायकस्वभावी आत्मा का निर्णय करके सर्व उद्यम से अपने शुद्धात्मा में ही वर्तता है। (देखो, प्रवचनसार गाथा २०० टीका।) जो जीव, पर के साथ कर्ता-कर्मपना, स्वस्वामिपना आदि सम्बन्ध किंचित् भी माने, वह जीव, पर का ममत्व छोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव में प्रवर्तमान नहीं हो सकता, वह तो राग-द्वेष-मोह में ही वर्तता है; वह वास्तव में मोक्ष का अधिकारी नहीं है।

देखो, आत्मा को किसके साथ सच्चा सम्बन्ध है, वह बतलाते हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—

'हुँ कोण छुं? क्यां थी थयो? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना सम्बन्धे वलगण छे? राखुं के अे परिहरुं?
अेना विचार विवेकपूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां सिद्धान्त तत्त्वो अनुभव्यां'

धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा हूँ; ज्ञान-दर्शनस्वभाव ही मेरा स्व है और उसी का मैं स्वामी हूँ; इसके अतिरिक्त अन्य किसी का मैं स्वामी नहीं हूँ; तथा अन्य कोई मेरा स्वामी नहीं है। यह कुटुम्ब-स्त्री-धन-शरीर कोई मेरा स्व नहीं है और मैं उनका स्वामी नहीं हूँ। नियमसार में कहते हैं कि—यह स्त्री-पुत्रादिक कोई तेरे सुख-दुःख के भागीदार नहीं होते; वह तो अपनी आजीविका के लिये ठगों का गिरोह तुझे मिला है; यदि तू उन्हें अपना मानेगा तो ठगा जायेगा। (देखो, नियमसार, गाथा १०१ की टीका।) यह स्त्री-पुत्रादि कोई वास्तव में इस आत्मा के सम्बन्धी नहीं हैं। तीर्थंकर भगवान आदि आराधक जीव, माता के गर्भ में हों, उस समय भी अपने आत्मा को ऐसा ही जानते हैं; पर के साथ किंचित् सम्बन्ध नहीं मानते। क्योंकि—

को नाम भणेद्बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम्।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन्॥२०७॥
मम परिग्रहो यदि ततोऽहम जीवतां तु गच्छेयम्।
ज्ञातेवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम॥२०८॥

''जो जिसका स्वभाव है, वह उसका स्व (धन, सम्पत्ति) है, और वह उसका (स्व-भाव का) स्वामी है;—इसप्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के अवलम्बन से ज्ञानी अपने आत्मा को ही आत्मा का परिग्रह नियम से जानता है; इसलिये 'यह मेरा स्व नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ'—ऐसा जानता हुआ परद्रव्य का परिग्रहण नहीं करता।'' *(-समयसार गाथा २०७ टीका)*

पुनश्च, ज्ञानी कहते हैं कि—''यदि मैं अजीव, परद्रव्य का परिग्रहण करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा स्व हो; मैं भी अवश्यमेव उस अजीव का स्वामी होऊँ; और अजीव का जो स्वामी, वह वास्तव में अजीव ही होता है। इसप्रकार विवश (लाचारी से) भी मुझे अजीवपना आ जायेगा। मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही स्व है और उसी का मैं स्वामी हूँ; इसलिये मुझे अजीवपना न हो; मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा; परद्रव्य का परिग्रहण नहीं करूंगा।'' *(-समयसार गाथा २०८ टीका।)*

आठ वर्ष की बालिका भी यदि सम्यक्त प्राप्त कर ले तो वह भी अपने आत्मा को ऐसा ही

जानती है। फिर बड़ी होने पर उसका विवाह हो, तब भी अपने अंतर अभिप्राय में अपने ज्ञायकस्वभावी आत्मा के सिवा अन्य किसी को वह अपना स्वामी नहीं मानती। और यदि पति धर्मात्मा हो तो वह भी ऐसा नहीं मानता कि 'मैं इस स्त्री का स्वामी हूँ;' मैं तो अपने ज्ञान का ही स्वामी हूँ—ऐसा धर्मी जानता है। पति-पत्नी के रूप में एक दूसरे के प्रति जो राग है, उसे वे अपने दोषरूप मानते हैं और ज्ञायकस्वभाव में उस राग का स्वामित्व भी स्वीकार नहीं करते। हमारे ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट हुए हैं, वही हमारा 'स्व' है और उसी के हम स्वामी हैं;—इसप्रकार मात्र अपने स्वभाव में ही स्व-स्वामिपना जानते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर या रागादि के साथ स्व-स्वामिपना नहीं मानते।

आचार्यदेव ने तो कहा है कि—यदि तू अजीव को अपना मानकर उस अजीव का स्वामी बनेगा तो तू अजीव हो जायेगा! अर्थात् तेरी श्रद्धा में जीवतत्त्व नहीं रहेगा। इसलिये हे भाई! यदि तू अपनी श्रद्धा में अपने जीवतत्त्व को जीवित रखना चाहता हो तो अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभावी जानकर उसी का स्वामी बन, और अन्य का स्वामित्व छोड़।

प्रश्न—मुनियों ने तो धन-मकान-स्त्री-वस्त्रादि का त्याग कर दिया है, इसलिये वे तो उनके स्वामी नहीं है; किन्तु हम गृहस्थों के तो वह सब होता है; इसलिये हम तो उसके स्वामी हैं न?

उत्तर—अरे भाई! क्या मुनि का और तेरा आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं? यहाँ आत्मा के स्वभाव की बात है; जगत का कोई भी आत्मा, परद्रव्य का स्वामी तो है ही नहीं। सिद्धभगवान या संसारी मूढ़ प्राणी; केवली भगवान या अज्ञानी; मुनि या गृहस्थ—किसी का भी आत्मा, परद्रव्य का स्वामी नहीं है। अब, चूँकि मुनियों को तो स्त्री-वस्त्रादि का राग छूट गया है और तुझे वह राग नहीं छूटा; इसलिये पहले निर्णय तो कर कि राग होने पर भी, आत्मा का स्वभाव ज्ञायकमूर्ति है; राग का स्वामित्व मेरे ज्ञायकस्वभाव में नहीं है। धर्मी को राग होने पर भी उनके अभिप्राय में 'राग सो मैं'—ऐसी राग की पकड़ नहीं होती; किन्तु 'ज्ञायकस्वभाव सो मैं'—ऐसी स्वभाव की पकड़ होती है। चैतन्यस्वभाव को चूककर देहादि पर का स्वामित्व मानना, वह तो मिथ्यात्व है ही; और शुभाशुभपरिणामों का स्वामित्व भी मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न—शुभाशुभपरिणामों का स्वामी आत्मा नहीं तो कौन है?

उत्तर—शुभाशुभपरिणाम, आत्मा की पर्याय में होते हैं, उस अपेक्षा से तो आत्मा ही उनका स्वामी है। परन्तु यहाँ तो आत्मा के स्वभाव का, आत्मा की शक्ति का वर्णन चल रहा है। शुभाशुभ

परिणाम, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा तो ज्ञायकस्वभावी है; उस ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से शुभाशुभभावरूप परिणमन होता ही नहीं; इसलिये ज्ञायकस्वभाव की दृष्टिवाले धर्मात्मा, शुभाशुभपरिणाम के स्वामी नहीं होते; ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि वीतरागी परिणाम हुए, उन्हीं के वे स्वामी होते हैं। अज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव दृष्टि नहीं है, इसलिये वही शुभाशुभपरिणाम का स्वामी होकर उनमें एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्वरूप परिणमित होता है।

धर्मी जानता है कि मैं तो अपने ज्ञान-आनन्दादि अनंत गुणों का स्वामी हूँ और वे ही मेरे स्वभाव हैं। मेरा स्वरूप ऐसा नहीं है कि मैं विकार का स्वामी होऊँ। विकार का स्वामी तो विकार होता है, मेरा शुद्धभाव, विकार का स्वामी कैसे होगा? मेरे ज्ञायकस्वभाव के साथ एकत्व हुआ जो निर्मल भाव (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) वही मेरा स्व है और मैं उसका स्वामी हूँ। अपने इस स्व-धन को मैं कभी नहीं छोड़ता। जो मेरा स्व हो, वह मुझसे पृथक् कैसे होगा? स्वभाव में एकाग्र होने पर रागादि तो मुझसे पृथक् हो जाते हैं; इसलिये वह मेरा स्व नहीं है।

जो जिसे अपना मानता है, वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। जो राग को अपना स्व मानता है, वह राग को छोड़ना नहीं चाहता, इसलिये वह राग को अपने स्वभाव से पृथक् नहीं जानता; इसलिये वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। जो ऐसा जाने कि मैं तो ज्ञायकस्वभाव हूँ, राग मेरे स्वभाव से भिन्न भाव है;—ऐसा जानकर ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट करे, तो फिर उसे जो अल्पराग रहता है, वह अस्थिरता जितना चारित्रदोष कहा जाता है। उसे श्रद्धा में ज्ञायकभाव का ही स्वामित्व वर्तता है, राग का स्वामित्व नहीं वर्तता; इसलिये श्रद्धा का दोष उसे छूट गया है। परन्तु जो जीव ज्ञायकस्वभाव को ही अपना जानकर, उसकी सन्मुखतापूर्वक सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित नहीं होता और पर के तथा राग के ही स्वामित्वरूप से परिणमित होता है, उसे तो श्रद्धा ही मिथ्या है और श्रद्धा का दोष अनंत संसार का कारण है।

प्रश्न—यह आत्मा, पर का स्वामी नहीं है, किन्तु ईश्वर ने आत्मा को बनाया है, इसलिये वे तो इस आत्मा के स्वामी हैं न?

उत्तर—यह तो महान मूढ़ता हुई। इस आत्मा को किसी ने बनाया नहीं है; आत्मा स्वयं सिद्ध वस्तु है; इसका कोई निर्माता नहीं है। ईश्वर का स्वरूप भी ऐसा नहीं है कि वह किसी को बनाए। जिसप्रकार यह आत्मा, पर का स्वामी या कर्ता होने से मिथ्यादृष्टि है, उसीप्रकार ईश्वर भी यदि पर का कर्ता हो तो वह मिथ्यादृष्टि ही हो जाये,—उसका ईश्वरपना न रहे। मैं तो ज्ञायकस्वरूप हूँ; पर

का कर्ता या स्वामी मैं नहीं हूँ—ऐसा आत्मभान करके फिर उसमें एकाग्रता द्वारा जिस जीव ने पूर्ण ज्ञान-आनन्द प्रगट किया, उसे ईश्वर कहा जाता है; और अनंत जीव इसप्रकार अपना शुद्ध स्वरूप प्रगट कर-करके ईश्वर हो गये हैं—अर्थात् उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। ऐसे अनंत जीव इस समय सिद्धालय में देहरहित ईश्वररूप से विराजमान हैं, वे कभी पुनः देह धारण नहीं करते। यह आत्मा भी अपने ज्ञायकस्वभाव को जानकर उसमें लीनता द्वारा ऐसे ईश्वर पद को प्राप्त कर सकता है। किन्तु जो ईश्वर को जगत का कर्ता मानते हैं, वे ईश्वर के शुद्ध स्वरूप का अनादर करते हैं; वे सचमुच ईश्वर को मानते ही नहीं; इसलिये वे तो नास्तिक जैसे—मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न—यह सच है कि कोई ईश्वर इस जीव का कर्ता या स्वामी नहीं है; किन्तु जगत के अकर्ता और पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप ऐसे सिद्ध भगवान तथा अरिहंत भगवान तो इस आत्मा के स्वामी हैं न?

उत्तर—भगवान की और गुरु की भक्ति में भले ही ऐसा कहा जाता है कि हे नाथ! हे जिनेन्द्रदेव! आप ही हमारे स्वामी हैं। किन्तु वास्तव में तो भगवान का आत्मा उनके केवलज्ञान और आनन्द का ही स्वामी है; वह आत्मा कहीं इस आत्मा का स्वामी नहीं है; इस आत्मा के भाव का स्वामी यह आत्मा स्वयं ही है; अन्य कोई इस आत्मा का स्वामी नहीं है। यदि ऐसा न जाने और सचमुच भगवान को ही अपना स्वामी मान ले, तो उसने अपने आत्मा को पराधीन माना है, अपनी भाँति समस्त आत्माओं को भी पराधीन स्वभावी माना है, इसलिये भगवान के आत्मा को भी उसने पराधीन माना है... उसने न तो भगवान को पहिचाना है और न उसकी भक्ति करना ही जानता है।

भगवान की सच्ची भक्ति करनेवाला जीव तो जो कुछ भगवान ने किया, वही स्वयं करना चाहता है। हे भगवान सर्वज्ञदेव! आपने अपने आत्मा को ज्ञायकस्वभावी जानकर पर का ममत्व छोड़ दिया और परमात्मा हुए... मेरा आत्मा भी आप जैसा ज्ञायकस्वभावी ही है—इसप्रकार जो जीव, भगवान जैसे अपने आत्मा को पहिचाने, वही भगवान का सच्चा भक्त है; उसी ने भगवान को पहिचानकर उनकी भक्ति की है। ऐसी परमार्थ भक्तिसहित भगवान के बहुमान का उल्लास आने पर कहता है कि 'हे नाथ! आप ही मेरे स्वामी हैं; आपने ही मुझे आत्मा दिया है...' धर्मी ऐसा बोलते हैं, वह कहीं मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु यथार्थ विनय का व्यवहार है। धर्मात्मा के अंतर अभिप्राय को न समझकर अकेली भाषा को पकड़े तो वह बाह्य दृष्टि जीव, धर्मात्मा को जानता ही नहीं; वह जड़ भाषा को तथा शरीर को जानता है किन्तु ज्ञानी के चैतन्यभाव को नहीं जानता।

देखो, श्री रामचन्द्रजी ज्ञानी-धर्मात्मा थे; उसी भव में मोक्षगामी थे। रामचन्द्रजी बलदेव थे और लक्ष्मण जी वासुदेव। दोनों भाईयों में परस्पर इतना अपार प्रेम था कि 'रामचन्द्रजी का स्वर्गवास हो गया;'—इतने से शब्द कानों में पड़ते ही 'हाय रा...म!' कहते हुए लक्ष्मण के प्राण उड़ गये! फिर रामचन्द्र जी लक्ष्मणजी के मृत शरीर को लेकर छह-छह महीने तक फिरते रहे... अनेक प्रकार की चेष्टाएँ और प्रलाप करते थे कि—भाई! तुम बोलते क्यों नहीं? तुम क्यों मुझसे रूठ गये? भोजन के समय उनके मुँह में कौर रखकर खिलाने की चेष्टा करते थे... रात को अपने पास सुलाते थे और उनके कान में कहते थे कि भैया, अब तो बोलो! इस समय तो हम और तुम अकेले ही हैं... तुम्हारे मन में जो कुछ हो, वह कह दो...! सबेरा होने पर उनके मृत शरीर को स्नान कराते हैं और कहते हैं कि भाई! कब तक सोते रहोगे? अब तो उठो; सबेरा हो गया है... जिनेन्द्र भगवान की पूजा का समय जा रहा है... जल्दी उठो!—इसप्रकार अनेक चेष्टाएँ करते हैं और लक्ष्मणजी के शरीर को कन्धे पर रखकर घूमते हैं... तथापि हराम है जो रामचन्द्रजी उनके साथ किंचित् भी सम्बन्ध मानते हों तो! स्वभाव के साथ स्व-स्वामि सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ अंश मात्र भी सम्बन्ध नहीं मानते थे। किन्तु बाहर से देखनेवाले अज्ञानी जीव, धर्मात्मा की ऐसी अंतर्दृष्टि का माप कहाँ से निकाल सकते हैं? छह-छह महीने तक उपरोक्तानुसार चेष्टाएँ करते हैं, तथापि उस समय भी लक्ष्मणजी के साथ या उनकी ओर के राग के साथ रामचन्द्रजी स्व-स्वामि सम्बन्ध नहीं मानते; उस-समय भी अपने ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से जो सम्यग्दर्शनादि वर्तते हैं, उन्हीं के स्वामिरूप से परिणमित होते हैं। धर्मात्मा के हृदय की थाह लेना अज्ञानी के लिये कठिन है।

प्रश्न—यदि रामचन्द्रजी लक्ष्मण के साथ किंचित् सम्बन्ध न मानते हों, तो छह महीने तक उनके मृत शरीर को लेकर क्यों फिरते रहे?

उत्तर—अरे भैया! ज्ञानी निरंतर अंतरंग में विवेकसहित है। तू रामचन्द्रजी के आत्मा को नहीं देखता, इसीलिये तुझे ऐसा लगता है कि रामचन्द्रजी छह महीने तक मृत शरीर को लेकर घूमते रहे। किन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि रामचन्द्रजी ने अपने आत्मा में राग को या लक्ष्मणजी को एक क्षणमात्र भी नहीं उठाया है; चिदानन्दस्वभाव का स्वामित्व छोड़कर एकक्षण भी राग के या पर के स्वामी नहीं हुए हैं। अपने इस शरीर का स्वामी भी वे स्वयं को नहीं मानते। कंधे पर मुर्दा रखा है, उस समय भी आत्मा में तो सम्यक्दर्शनादि निर्मलभावों को ही उठाया है—उन्हीं का स्वामित्व

वर्तता है। वर्तमान कुछ दोष है, वह श्रद्धा-ज्ञान का दोष नहीं है; चारित्र की कमजोरी का दोष है, उसे हटाना चाहता है; अतः वह दोष गौण है।

देखो, वेदान्त ऐसा कहता है कि 'करे तथापि अकर्ता रहता है (-अनासक्तिभाव से करता है)' ऐसी यह बात नहीं है; उसमें और इस बात में तो आकाश-पाताल का अंतर है। करना, फिर भी अकर्ता रहना, यह बात ही परस्पर विरुद्ध है। जो करता है, वह कर्ता ही हैं; रागादि का कर्ता भी हो और ज्ञाता भी रहे—ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ तो ऐसी अंतर्दृष्टि की अपूर्व बात है कि मुझे अपने ज्ञायकस्वभाव के साथ ही स्व-स्वामित्व सम्बन्ध है; पर के साथ मुझे सम्बन्ध है ही नहीं—ऐसा जानकर, ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से परिणमित होनेवाला जीव, सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावों के साथ ही एकत्वरूप से परिणमित होता है; रागादि के साथ एकत्वरूप से कर्ता होकर परिणमित नहीं होता; इसलिये वह अकर्ता है। जो आत्मा के ऐसे स्वभाव को पहिचाने, उस धर्मात्मा को देव-गुरु-शास्त्र का तथा अपने गुण-दोष आदि का यथार्थ विवेक हो जाये; उसे कहीं स्वच्छन्दता या उलझन न हो। धर्मात्मा की दशा ही बदल जाती है! बाहर से देखनेवाले जीव उसे नहीं जान सकते।

देखो, जब रावण, सीता का हरण करके ले जाता है और रामचन्द्रजी उनकी खोज में निकलते हैं, उस समय वे वृक्षों और पर्वतों से भी पूछते हैं कि हे वृक्ष! तुमने मेरी सीता को देखा है? हे पर्वत! तुमने कहीं जानकी देखी है? देखी हो तो मुझसे कहो। और उस समय अपने ही शब्दों की प्रतिध्वनि से उन्हें ऐसा लगता है कि पर्वत ने उत्तर दिया है। ऐसी दशा के समय भी रामचन्द्रजी ज्ञानी-विवेकी-धर्मात्मा हैं; अंतर्दृष्टि में सीता का या सीता के प्रति राग का स्वामित्व नहीं मानते, किन्तु ज्ञान के ही स्वामीरूप से परिणमित होते हैं। और ऐसे उपयोग निरन्तर नहीं रहते किन्तु ऐसा परिणमन तो निरन्तर है ही।

मेरे आत्मा की सम्बन्धशक्ति ऐसी है कि निर्मलभाव ही मेरा स्व है और उसका मैं स्वामी हूँ; किन्तु सीता मेरा स्व और मैं उसका स्वामी—ऐसा सम्बन्ध मेरे स्वभाव में नहीं है—ऐसा वे जानते हैं। अज्ञानी को स्त्री आदि का वियोग होने पर कदाचित् वह खेद न करे और शुभराग से सहन कर ले, किन्तु उसके अभिप्राय में ऐसा है कि 'यह राग मेरा स्व और मैं उसका स्वामी;' अथवा 'स्त्री मेरी थी और वह चली गई, फिर भी मैंने सहन कर लिया;'—इसप्रकार उसका अभिप्राय ही मिथ्या है; उसके अभिप्राय में अनंत राग और स्त्री का अनंत स्वामित्व पड़ा है। ज्ञानी को शोक परिणाम हों, उस समय भी 'मैं ज्ञायक हूँ'—ऐसी दृष्टि नहीं छूटती, इसलिये सारे जगत का और विकार का

स्वामित्व उसे छूट गया है। स्वभाव के आश्रय से जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह 'स्व' और आत्मा स्वयं उसका स्वामी;—इसप्रकार अन्तिम सम्बन्धशक्ति में द्रव्य-पर्याय की एकता बतलाकर आचार्यदेव ने ४७ शक्तियाँ पूर्ण की हैं। स्वयं अपने स्वभाव के साथ सम्बन्ध रखकर स्वभाव के साथ एकतारूप से परिणमित हो—ऐसा आत्मा का स्वभाव है, और उसी में आत्मा की शोभा है। आत्मा स्वयं अपने स्वभाव में एकता करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणमित हो, उसमें आत्मा की शोभा है; परन्तु पर के सम्बन्ध से आत्मा को बतलाना, उसमें आत्मा की शोभा नहीं है। इसलिये हे जीव! पर का सम्बन्ध तोड़कर अपने ज्ञायकस्वभाव में ही एकत्व कर। ज्ञायकस्वभाव में एकता करके जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, वह तेरा स्व-स्वभाव है और तू ही उसका स्वामी है। इसके अलावा अन्य किसी के साथ तुझे स्व-स्वामि सम्बन्ध नहीं है।

—इसप्रकार यह सम्बन्धशक्ति अपने स्वभाव के साथ ही सम्बन्ध (-एकता) कराके पर के साथ का सम्बन्ध छुड़वाती है; और स्वभाव के साथ एकता करके पर के साथ का सम्बन्ध तोड़ने पर, विकार के साथ का सम्बन्ध भी छूट जाता है। इसप्रकार अकेले शुद्धभाव के साथ ही स्व-स्वामिपना है; विकार के साथ भी स्व-स्वामिपना नहीं है। स्वभावोन्मुख होकर एकाग्र हुआ, वहाँ आत्मा स्वयं ही अपने शुद्धभाव का ही स्वामी है। अपने स्वभाव के साथ एकतारूप सम्बन्ध करके जीव ने उसका स्वामित्व कभी नहीं किया है और पर का स्वामित्व माना है। यदि इस 'स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वरूप सम्बन्धशक्ति' को जान ले तो पर के साथ का सम्बन्ध तोड़ दे और स्वभाव में एकतारूप स्व-स्वामित्व सम्बन्ध बनाये; इसलिये साधकदशा हो।

आत्मा को मात्र अपने स्वभाव के साथ ही स्व-स्वामित्व का सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो और पर के साथ भी सम्बन्ध हो, तो पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर, स्वभाव में एकता करके शांति का अनुभव नहीं हो सकता—पर से पृथक् होकर अपने स्वरूप में लीन नहीं हो सकता। परन्तु पर से विभक्त और स्वरूप में एकत्व होकर आत्मा अपने में ही अपनी शांति का वेदन कर सकता है, क्योंकि उसे अपने साथ ही स्व-स्वामिपने का सम्बन्ध है। अपनी शांति के वेदन के लिये आत्मा को पर का सम्बन्ध नहीं करना पड़ता। नित्य स्वशक्ति के बल से, पर के सम्बन्ध बिना मात्र स्व में ही एकता द्वारा आत्मा अपनी शांति का अनुभव करता है।

स्व में एकत्व और पर से विभक्त—ऐसा आत्मा का स्वभाव है; छह कारक और एक सम्बन्ध—इन सातों विभक्तियों द्वारा आचार्यदेव ने आत्मा को पर से विभक्त बतलाया है।

सम्बन्धशक्ति भी आत्मा का पर के साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती किन्तु अपने में ही स्व-स्वामिसम्बन्ध बतलाना पर के साथ का सम्बन्ध तुड़वाती है;—इसप्रकार पर से भिन्न आत्मा को बतलाती है। जिसने सबसे विभक्त आत्मा को जाना, उसने समस्त विभक्तियों को जान लिया।

पर के सम्बन्ध से जानने पर आत्मा का यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता। करोड़पति, लक्ष्मीपति, पृथ्वीपति, भूपति, स्त्री का पति—इत्यादि कहे जाते हैं, किन्तु वास्तव में आत्मा उस लक्ष्मी, पृथ्वी या स्त्री आदि का स्वामी नहीं है; इस शरीर का स्वामी भी आत्मा नहीं है; आत्मा तो ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप स्व-भावों का ही स्वामी है, और वही आत्मा का 'स्व' है। स्व तो उसे कहा जाता है जो सदैव साथ रहे, कभी अपने से पृथक् न हो। शरीर पृथक् हो जाता है, राग पृथक् हो जाता है किन्तु ज्ञान-दर्शन-आनन्द आत्मा से पृथक नहीं होते; इसलिये उनके साथ ही आत्मा को स्व-स्वामि सम्बन्ध है।

जिसप्रकार—यदि आत्मा में जीवनशक्ति न हो तो दस जड़ प्राणों के संयोग के बिना वह जी नहीं सकेगा; परन्तु आत्मा में जीवन शक्ति नित्य होने से सिद्ध भगवन्त उन दस प्राणों के बिना ही मात्र चैतन्य प्राण से जीते हैं, और ऐसी ही जीवन शक्ति समस्त आत्माओं में हैं। उसीप्रकार आत्मा की सम्बन्धशक्ति से यदि मात्र अपने ही साथ स्व-स्वामित्वसम्बन्ध न हो और पर के साथ भी स्व-स्वामित्वसम्बन्ध हो तो आत्मा, पर के सम्बन्ध बिना नहीं रह सकता; किन्तु देह-रागादि पर के सम्बन्ध बिना मात्र अपने अपने चैतन्यस्वभाव में ही स्व-स्वामित्व सम्बन्ध से अनंत सिद्ध भगवन्त शोभायमान है; समस्त आत्माओं का ऐसा ही स्वभाव है। पर के सम्बन्ध से जीवन बतलाने में आत्मा की शोभा नहीं है। पंचेन्द्रिय जीव, रागी जीव, कर्मबन्धनयुक्त जीव,—इसप्रकार पर के सम्बन्ध से भगवान आत्मा को बतलाना, वह उसकी महत्ता को लांछन लगाना है, अर्थात् इसप्रकार पर के सम्बन्ध से भगवान आत्मा के यथार्थ स्वरूप की पहिचान नहीं होती। आत्मा तो अपने ज्ञायकस्वभाव का ही स्वामी है और वही उसका स्व है; उस ज्ञायकस्वभाव से आत्मा को जानने में ही उसकी शोभा है।

इन्द्रियादि पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर ऐसे आत्मा का अनुभव करे, तब उसे सर्वज्ञ भगवान की निश्चय स्तुति कही जाती है। सर्वज्ञ भगवान की निश्चयस्तुति का सम्बन्ध सर्वज्ञ के साथ नहीं है, किन्तु अपने आत्मस्वभाव के साथ ही है। जब तक सर्वज्ञ पर ही लक्ष रहे और अपने आत्मस्वभाव में लक्ष न करे, तब तक सर्वज्ञ भगवान की निश्चयस्तुति नहीं होती। अपना आत्मा ही

सर्वज्ञशक्ति से परिपूर्ण है—ऐसा प्रतीति में लेकर स्वभाव के साथ जितनी एकता करे, उतनी सर्वज्ञ भगवान की निश्चयस्तुति है; और सर्वज्ञ की ओर के बहुमान का भाव रहे, वह व्यवहारस्तुति है।

जिसप्रकार पुत्र का माता के साथ सम्बन्ध है, स्त्री का पति के साथ सम्बन्ध है, उसीप्रकार धर्म का सम्बन्ध किसी के साथ है ?—धर्म का सम्बन्ध किसी अन्य के साथ नहीं, किन्तु धर्मी ऐसे अपने आत्मा के साथ ही धर्म का सम्बन्ध है।

—क्या भगवान के आत्मा के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?—नहीं।

—क्या महाविदेह आदि क्षेत्रों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?—नहीं।

—क्या चौथा काल आदि कालों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?—नहीं।

—क्या रागादि भावों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है ?—नहीं।

किसी भी परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल और परभावों के साथ इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध नहीं है; वे कोई इस आत्मा का स्व नहीं है और न यह आत्मा उनका स्वामी है। इस आत्मा के धर्म का सम्बन्ध अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के साथ ही है। अनंत-शक्ति के पिण्डरूप शुद्धचैतन्यद्रव्य के साथ ही धर्म की एकता है; असंख्य प्रदेशी चैतन्यक्षेत्र ही धर्म का क्षेत्र है; स्वभाव में अभेद हुई स्व-परिणति ही धर्म का काल है; और ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि अनंत गुण ही आत्मा के धर्म का भाव है।—ऐसे स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के साथ ही आत्मा के धर्म का सम्बन्ध है और उसी के साथ आत्मा का स्व-स्वामिपना है।

प्रश्न—आत्मा का सम्बन्ध अन्य पदार्थों के साथ भले ही न हो, किन्तु कर्म के साथ तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है न ?

उत्तर—नहीं; अपने स्वभाव के साथ ही स्व-स्वामित्व सम्बन्ध जानकर, उसी में एकतारूप से जो परिणमित हुआ, उसे कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध छूट गया है। जो जीव असंयोगी-स्वभाव की ओर दृष्टि नहीं करता और कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि नहीं छोड़ता, वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा को एकान्त से कर्म के साथ सम्बन्धवाला ही जाने तो वह जीव आत्मा के शुद्धस्वरूप को नहीं जानता। जहाँ मात्र अपने स्वभाव के साथ ही एकता करके मात्र अपने स्व-भाव के साथ ही स्व-स्वामि सम्बन्धरूप से परिणमित होता है, वहाँ कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी कहाँ रहा ?—इसप्रकार कर्म के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है। साधक को ज्यों-ज्यों अपने स्वभाव में एकता होती जाये, त्यों-त्यों कर्म का सम्बन्ध टूटता जाता है।

इसप्रकार सम्बन्धशक्ति स्वभाव के साथ सम्बन्ध कराके कर्म के साथ का सम्बन्ध तुड़वाती है।

—यहाँ ४७ वीं सम्बन्धशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।

हे भव्य! कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण और सम्बन्ध—इन सात विभक्तियों के वर्णन द्वारा हमने तेरे आत्मा को पर से अत्यन्त विभक्त बतलाया; इसलिये अब तू अपने आत्मा को सबसे विभक्त तथा अपनी ज्ञानादि अनंत शक्तियों के साथ संयुक्त जानकर प्रसन्न हो... स्वभाव का ही स्वामी बनकर पर के साथ सम्बन्ध के मोह को छोड़!

❀ स्वभाव का कर्ता होकर पर के साथ की कर्ताबुद्धि छोड़।

❀ स्वभाव के ही कर्मरूप होकर दूसरे कर्म की बुद्धि छोड़।

❀ स्वभाव को ही साधन बनाकर अन्य साधन की आशा छोड़।

❀ स्वभाव को ही सम्प्रदान बनाकर अपने को निर्मलभाव प्रदान कर।

❀ स्वभाव को ही अपादान बनाकर उसमें से निर्मलता ले।

❀ स्वभाव को ही अधिकरण बनाकर पर का आश्रय छोड़।

❀ स्वभाव का ही स्वामी बनकर उसके साथ एकता का सम्बन्ध कर और पर के साथ का सम्बन्ध छोड़। 'यह मेरा और मैं इसका'—ऐसी पर के साथ की एकताबुद्धि का त्याग कर।

—इसप्रकार समस्त पर से विभक्त और निज-स्वभाव से संयुक्त—ऐसे अपने आतमराम को जानकर उसके अनुभव से तू आनन्दित हो... प्रसन्न हो।

❀ ❀ ❀

—गणधरतुल्य श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा श्री समयसार के परिशिष्ट में वर्णित 'अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की ४७ शक्तियों' पर, परमपूज्य अध्यात्ममूर्ति श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों द्वारा हुआ अद्भुत विवेचन यहाँ समाप्त हुआ... वह भव्य जीवों को भगवान आत्मा की प्रसिद्धि कराये।

अगले अंक में इस लेखमाला का अन्तिम लेख प्रकाशित होगा; और उसमें 'ज्ञान लक्षण द्वारा अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की प्रसिद्धि' पूर्वक यह लेखमाला समाप्त की जायेगी।

भेदज्ञान-प्रश्नोत्तर

(समयसार सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के प्रवचनों से)

[आत्मधर्म अंक १६९ से आगे]

(१५०) प्र०—मिथ्यात्वादि कर्म का निमित्तकर्ता कौन होता है ?

उत्तर—जिसकी दृष्टि ज्ञायक पर नहीं किन्तु विकार पर है—ऐसा अज्ञानी जीव ही मिथ्यात्वादि कर्म के निमित्तरूप, अज्ञानभाव से परिणमित होता हुआ कर्ता होता है। ज्ञानी को ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से ज्ञाता-भावरूप से ही परिणमित होता हुआ मिथ्यात्वादि कर्म का निमित्तकर्ता भी नहीं होता, वह अकर्ता है।

(१५१) प्र०—सम्यक्त्वी बंधन का अकर्ता क्यों है ?

उत्तर—ज्ञायकनिधि का अनुभवन करनेवाला ज्ञानी, कर्म के निमित्त की ओर नहीं झुकता; मिथ्यात्वप्रकृति के बंध का निमित्त हो—ऐसा नैमित्तिकभाव उसे छूट गया है और सम्यक्त्वरूप अबंधभाव प्रगट हुआ है। इसप्रकार सम्यक्त्वी बंधन का अकर्ता है।

(१५२) प्र०—अकर्तापना कब होता है ?

उत्तर—स्वयं ज्ञायक की ओर दृष्टि लगाकर उस ओर झुका, वहाँ कर्म की ओर झुकाव नहीं रहा। इसलिये वह आत्मा कर्म का अकर्ता हुआ, ज्ञाता-दृष्टा हुआ, सम्यक्त्वी हुआ।

(१५३) प्र०—सम्यक्त्वी को चौथे गुणस्थान में संयत कहा जा सकता है ?

उत्तर—मिथ्यात्वदशा में सर्वथा असंयमीपना था; भेदज्ञान होने पर वैसा असंयमीपना दूर होकर सम्यग्दर्शन की भूमिका को योग्य संयमीपना हुआ; सिर्फ उस अपेक्षा से (-आंशिक स्वरूपाचरणचारित्र अपेक्षा से) चौथे गुणस्थान में स्थित सम्यक्त्वी भी संयत हैं। स्वरूप में विशेष स्थिरतारूप संयतपना तो मुनिवरों को होता है। (संयमलब्धिस्थान अपेक्षा तो असंयतपना है)।

(१५४) प्र०—क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता कौन है ?

उत्तर—ज्ञायकस्वभाव को न देखनेवाला और मात्र रागपरिणाम को ही देखनेवाला जीव क्रमबद्धपर्याय को नहीं जानता। ज्ञान और राग का भेद करके जो ज्ञायक की ओर ढला, वह स्वसन्मुख ज्ञाता हुआ। वहीं ज्ञायकपने के क्रमबद्धपरिणाम से उत्पन्न होता हुआ क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है।

(१५५) प्र०—मिथ्यादृष्टि क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता है ?

उत्तर—नहीं; उसे पर्यायबुद्धि-कर्ताबुद्धि होने से ज्ञायकस्वभाव की खबर नहीं है, इसलिये वह क्रमबद्धपर्याय को भी वास्तव में नहीं जानता।

(१५६) प्र०—तो फिर अज्ञानी को क्रमबद्धपर्याय है या नहीं ?

उत्तर—अज्ञानी को भी क्रमबद्धपर्याय तो है, किन्तु उसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है; इसलिये उसे अशुद्धता क्रमबद्ध होती है और वह कर्म के कर्तारूप से परिणमित होता है। जहाँ ज्ञायक जागृत हुआ, वहाँ क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हुआ और उस शुद्धता के क्रम का प्रारम्भ हो गया।

(१५७) प्र०—क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता, राग में व्याप्य-व्यापकरूप से उत्पन्न होता है या नहीं ?

उत्तर—जिसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई है, वह ज्ञानभाव के साथ ही व्याप्यव्यापकरूप होकर क्रमबद्धपर्याय से उत्पन्न होता है, किन्तु राग के साथ व्याप्यव्यापकरूप से उत्पन्न नहीं होता। जो राग के साथ व्याप्यव्यापकरूप से (एकताबुद्धिरूप से) उपजता है, उसे ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि नहीं है, और इसलिये उसे क्रमबद्धपर्याय का ज्ञातृत्व भी नहीं है। क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता तो ज्ञानभाव के साथ ही व्याप्यव्यापकरूप से उत्पन्न होता है।

(१५८) प्र०—सर्वविशुद्धज्ञान का अधिकारी कौन है ?

उत्तर—उपरोक्त ज्ञाता ही सर्वविशुद्धज्ञान का अधिकारी है।

(१५९) प्र०—कर्मफल का भोक्ता कौन है ?

उत्तर—ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख होकर जिसने आनन्द का भोक्तृत्व प्रगट नहीं किया—ऐसा अज्ञानी ही कर्मफल का भोक्ता होता है। ज्ञानी तो ज्ञायकभाव में ही स्थित हुआ है, इसलिये वह कर्म के फल का भोक्ता नहीं होता; वह तो ज्ञायक ही रहता है।

(१६०) प्र०—सम्यक्त्वी काहे का भोक्ता है ?

उत्तर—मैं ज्ञायकस्वभावी आनन्दमूर्ति हूँ—ऐसा अनुभव करता हुआ ज्ञानी अपने ज्ञान-आनन्द का ही भोक्ता है। हर्ष-शोक के परिणाम मैं नहीं हूँ—ऐसी भिन्नत्व की प्रतीति होने से ज्ञानी उस हर्ष-शोक का भोक्ता नहीं है। 'मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द हूँ'—इसप्रकार वह अतीन्द्रिय आनन्द का ही भोक्ता है।

(१६१) प्र०—हर्ष-शोकादि अशुद्धता का वेदन कैसे छूट सकता है ?

उत्तर—ज्ञान को हर्ष-शोक में एकाग्र किया है, उसके बदले अंतरोन्मुख करके ज्ञायकभाव में एकाग्र करने से अतीन्द्रिय आनन्द का संवेदन होता है और हर्ष-शोक का वेदन छूट जाता है। आनन्द के वेदन से आत्मा तृप्त-तृप्त होता है।

(१६२) प्र०—सम्यक्त्वी का सुख कैसा है ?

उत्तर—सम्यक्त्वी को स्वभावसुख का संवेदन है; सम्यक्त्वी का वह सुख केवली भगवान जितना नहीं है; तथापि उसकी जाति तो केवली भगवान जैसी ही है।

(१६३) प्र०—कौन किसका भोक्ता है ?

उत्तर—ज्ञायकस्वभाव को ही अपना स्वरूप मानकर जो उसमें एकाग्र हुआ है, वह तो ज्ञायकस्वभाव के आनन्द का ही भोक्ता है; और ज्ञायकस्वभाव को अपना स्वरूप न जानकर प्रकृति के स्वभाव को ही जो अपना स्वरूप मानता है, वह कर्म के फल का ही भोक्ता है। इसप्रकार ज्ञानी तो अपने आत्मिक-आनन्द का ही भोक्ता है और अज्ञानी हर्ष-शोक का ही भोक्ता है। परद्रव्य का भोक्ता तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई नहीं है।

(१६४) प्र०—ज्ञानी आनन्द का ही भोक्ता है और अज्ञानी हर्ष-शोक का ही भोक्ता है—ऐसा नियम समझकर क्या करें ?

उत्तर—हे निपुण पुरुषों! हे आत्मार्थी जीवों! ऐसे नियम को भलीभाँति विचार कर तुम अज्ञानीपने को छोड़ो और शुद्ध आत्मा में निश्चल होकर ज्ञानीपने का सेवन करो—उसके आनन्द का अनुभव करो 'राग-द्वेष हर्ष-शोक मैं हूँ'—ऐसी बुद्धि को छोड़ो और 'ज्ञायकस्वभाव मैं हूँ'—ऐसी स्वसन्मुख प्रतीति करके आत्मा के आनन्द का अनुभव करो। चैतन्यसत्ता के अतीन्द्रिय आनन्द में एकाग्र होकर उसका उपभोग करो।—ऐसी श्रीगुरुओं की प्रेरणा है।

मोक्ष के कारणरूप सामायिक

मुनियों को निश्चय से करने योग्य जो छह आवश्यक हैं, उनमें पहला सामायिक है।

जो अन्यवश अर्थात् राग के वश नहीं है किन्तु स्ववश अर्थात् मात्र निज आत्मा के वश है—आत्मा का ही अवलम्बन करता है—ऐसा जो अवश-कार्य, स्वाधीन कार्य, वे सामायिकादि आवश्यक हैं। स्वभाव से च्युत होकर पराश्रय से जो रागादि होते हैं, वह तो परवश हैं; वह सामायिक नहीं है, आवश्यक नहीं हैं, निश्चय से करने योग्य कार्य वह नहीं है। चैतन्यस्वरूप आत्मा में एकाग्रता द्वारा स्ववशरूप से उत्पन्न होनेवाली वीतरागी सामायिक मोक्ष का कारण है तथा वह मुनियों का आवश्यक कर्म है। आत्मस्वभाव में स्थिरतारूप यह सामायिक धर्म, समस्त कर्मों का क्षय करने में कुशल है और वही निर्वाण का प्रसिद्ध मार्ग है। शुद्ध चैतन्यपद के निर्दोष आसन पर आरूढ़ होकर जो जीव ऐसी सामायिक करता है, उसे निर्विकल्प आत्मसुख का वेदन होता है, वह साक्षात् धर्म है... इसके अतिरिक्त बाहर के आसन में, देह की स्थिरता में, वचन में या शुभराग में—कहीं भी सामायिक नहीं रहती। सामायिक तो जैनज्योति है; चैतन्यज्योति में स्थिरता के बिना वह वीतरागी जैनज्योति (सामायिक) प्रगट नहीं होती और ऐसी सामायिक के बिना मुक्ति नहीं होती। मोक्ष का मार्ग 'सामायिक' है, वह आत्मा के ही आश्रित है अर्थात् स्ववश है—अन्यवश नहीं।

क्या चटाई के वश सामायिक है ?—नहीं।

क्या शरीर स्थिर बैठा, उसके वश सामायिक है ?—नहीं।

क्या वचन की क्रिया के वश सामायिक है ?—नहीं।

तो क्या शुभराग के वश सामायिक है ?—नहीं।

तो फिर किसके वश है ?—सामायिक स्ववश अर्थात् अपने आत्मस्वभाव के आधीन ही है—अन्य किसी के आधीन नहीं।

सम्पूर्णरूप से शुद्ध आत्मा के वश वर्तनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो वीतरागी सामायिक है, वही कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त कराने में कुशल है; उसी में निर्विघ्नरूप से मोक्ष प्राप्त कराने की शक्ति है; बीच में गुणस्थान के योग्य व्यवहारमार्ग (राग) आये, वह कहीं कर्मक्षय करने या मोक्षप्राप्त कराने में कुशल नहीं है; वह तो कर्मबंधन में बाँधता है। इसलिये शुद्ध आत्मा के आश्रित स्ववश सामायिक ही आवश्यक है—वही मोक्ष के लिये अवश्य करने योग्य कार्य है; उसी को जिनशासन के संतों ने निर्वाण का मार्ग कहा है। (-नियमसार कलश २३८ के प्रवचन से)

कारणशुद्धपर्याय

[७]

(नियमसार गाथा ११-१२ चालू)

'स्वरूपप्रत्यक्ष' ज्ञान प्रत्येक जीव में विद्यमान है और वह केवलज्ञान का मूल है; केवलज्ञान होने से पहले भी सम्यक्त्वी को उसकी प्रतीति हो गई है। इसे 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहते हैं— ऐसे नाम की खबर तो सम्यक्त्वी को कदाचित् न हो, किन्तु अंतर्मुख वेदन होने से जो प्रतीति हुई, उसमें इस स्वरूपप्रत्यक्ष की प्रतीति भी साथ ही आ गई है। यह स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान कहीं आत्मा से भिन्न नहीं है, किन्तु वह आत्मा का सामान्य कारणस्वभाव ही है; इसलिये आत्मस्वभाव की प्रतीति में वह भी आ जाता है। और स्वभाव के अवलम्बन से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह भी स्वभाव के साथ अभेद हो गई है, इसलिये वह भी सम्यग्दर्शन के विषय से भिन्न नहीं रहती।

ज्ञान के प्रकारों में कौन-सा ज्ञान किसे होता है उसका वर्णन

कारणस्वभावज्ञान और कार्यस्वभावज्ञान—इसप्रकार स्वभाव ज्ञान के दो प्रकार कहे हैं।

विभावज्ञान सम्यक् और मिथ्या—ऐसे दो प्रकार का है; उसमें से सम्यक्ज्ञान के मति-श्रुत-अवधि और मन:पर्यय—ऐसे चार भेद हैं तथा मिथ्याज्ञान के कुमति-कुश्रुत और विभग —ऐसे तीन भेद हैं।

—इसप्रकार ज्ञान के कुल नौ प्रकार हुए। उनमें से कौन-सा ज्ञान किन जीवों को होता है, सो कहते हैं—

- कारणस्वभावज्ञान किसे होता है ?

— कारणस्वभावज्ञान तो समस्त जीवों को त्रिकाल होता है।

- कार्यस्वभावज्ञान किसे होता है ?

— कार्यस्वभावज्ञान अर्थात् केवलज्ञान तो अरिहंत और सिद्ध भगवंतों को ही होता है।

- मति-श्रुत-अवधि और मन:पर्यय, यह चार सम्यक्ज्ञान किसे होते हैं ?

परमभाव में स्थित ऐसे सम्यग्दृष्टि-साधक को ही यह चार सम्यक्ज्ञान होते हैं। उसमें विशेषता इतनी है कि मति-श्रुतज्ञान तो सभी सम्यक्त्वियों को होते हैं; अवधिज्ञान किसी-

किसी सम्यक्त्वी को ही होता है; और मन:पर्ययज्ञान तो किन्हीं विशिष्ट संयमधारी मुनिवरों को ही होता है।

● कुमति, कुश्रुत और विभंग यह तीन मिथ्याज्ञान किसे होते हैं ?

मिथ्यादृष्टि जीवों को कुमति आदि तीन अज्ञान होते हैं; उनमें से विभंगाान किसी-किसी मिथ्यादृष्टि को होता है।

देखो, चार सम्यग्ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं; वे सम्यग्दृष्टि कैसे हैं ?—कि 'परमभाव में स्थित' है। सम्यक्त्वी किसी राग-व्यवहार में अथवा औदयिकादि भावों में स्थित नहीं हैं किन्तु परमभाव में ही स्थित हैं; 'परमभाव' अर्थात् आत्मा का त्रिकाली पारिणामिकस्वभाव; उसमें जिसने अपनी दृष्टि को एकाग्र किया है, वही सम्यग्दृष्टि है। जिसकी दृष्टि, रागादि में एकाग्र है, वह मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि परमभाव में स्थित है। किसी सम्यक्त्वी को अवधि या मन:पर्ययज्ञान हो अथवा न हो; कोई चौथे गुणस्थान में हो, कोई पांचवें में हो, अथवा कोई छट्ठे-सातवें आदि गुणस्थान में हो, किन्तु वे सभी सम्यक्त्वी 'परमभाव' में स्थित होते हैं। 'परमभाव' का अर्थ क्या ? शरीरादि तो जड़ तथा पर हैं, पुण्य-पाप विकार हैं, मतिज्ञानादि क्षायोपशमिकज्ञान हैं—वे कोई भी क्षणिकभाव-परमभाव नहीं हैं; केवलज्ञान भी परमभाव नहीं हैं; आत्मा का जो त्रिकाल एकरूप परमपारिणामिकस्वभाव है, वही 'परमभाव' है; वह सदा शुद्ध है; वही केवलज्ञान और सम्यग्दर्शनादि का आधार है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे परमभाव की भावना में ही स्थित होते हैं। किसी निमित्त की, संयोग की, विकार की या क्षणिकभाव की भावना में जो स्थित है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। जो बाह्य पदार्थों के अवलंबन से धर्म मानता है, वह जीव परमभाव में स्थित नहीं है, किन्तु बाह्य पदार्थों में ही स्थित है। उसी प्रकार जो राग के अवलम्बन से धर्म मानता है, वह राग में ही स्थित है। वह परमभाव में स्थित नहीं है; इसलिये वह सम्यग्दृष्टि नहीं है और उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिसे एक-समय में परिपूर्ण आनन्दकन्द ऐसे अपने परमस्वभाव की प्रतीति और भावना नहीं है, और रागादि बाह्यभावों-परभावों से लाभ मानकर जो उनकी भावना भाता है, वह मिथ्यादृष्टि है; उस मिथ्यादृष्टि के ज्ञानादि भी मिथ्या होते हैं। त्रिकाल एकरूप ध्रुव, कारण -स्वभावरूप ऐसा जो परमभाव है, उसकी भावना से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं। देखो, यह विकल्पयुक्त भावना की बात नहीं है, किन्तु परमभाव के आश्रय से जो भवन हुआ, वही सच्ची

भावना है। विकल्प की भावना नहीं तथा विकल्प से भावना नहीं, किन्तु अंतर्मुख निर्विकल्प पर्याय से आत्मा के परमस्वभाव की भावना, वह मोक्षमार्ग है। परमस्वभाव में एकाग्र होकर जो पर्याय परिणमित हुई, उसने परमस्वभाव की भावना भायी—ऐसा कहा जाता है। तद्रूप परिणमन के बिना मात्र विकल्प से भावना भाये, वह सच्ची भावना नहीं है। छट्ठे-सातवें गुणस्थान में बारम्बार निर्विकल्प आनन्द में झूलते हुए भावलिंगी सन्त हों... अथवा छियानवें हजार रानियों के बीच रहनेवाले चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हों—उन दोनों को आत्मा के परमभाव की ही भावना होती है; रागादि परभावों की भावना उनके नहीं होती; इसलिये वे राग में स्थित नहीं हैं किन्तु परमभाव में ही स्थित हैं। सम्यक्त्वी को राग हो, उस समय भी उन्हें उस राग की भावना नहीं होती, किन्तु परमभाव की ही भावना होती है। और ज्यों-ज्यों वह भावना उग्र होती जाती है अर्थात् उसकी स्थिरता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों गुणस्थान में भी वृद्धि होती जाती है और इसी उपाय से केवलज्ञान होता है। मात्र बाह्य क्रिया अथवा कषाय की मंदता देखकर गुणस्थान का माप नहीं निकलता। जो अपने परमभाव को नहीं जानता और रागादि परभावों को ही अपने स्वभावरूप से मानता है, उसे स्व-परप्रकाशक सम्यग्ज्ञान नहीं होता किन्तु मिथ्याज्ञान होता है। रागादि से अथवा निमित्तों से लाभ माननेवाला जीव एकान्त परज्ञेय-सन्मुख रहता है और परभावों में ही वर्तता है किन्तु स्वभावोन्मुख होकर स्वज्ञेयरूप ऐसे अपने परमभाव को वह नहीं जानता, इसलिये उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इसप्रकार जो परमभाव की भावना में स्थित है, वही सम्यग्दृष्टि है और उसे सम्यग्ज्ञान होता है; तथा जो परमभाव की भावना में स्थित नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है, उसे मिथ्याज्ञान होता है।

इसप्रकार नौ प्रकार के ज्ञान में कौन-सा ज्ञान किसे होता है ?—वह बतलाया। अब, उसके प्रत्यक्ष और परोक्षपने का वर्णन करेंगे... उसमें 'स्वरूपप्रत्यक्ष' ज्ञान की अद्भुत बात आयेगी।

(इन गाथाओं के जो छह विषय कहे थे, उनमें से दूसरा विषय यहाँ समाप्त हुआ।)

❀ ❀ ❀

ज्ञान के प्रकारों में प्रत्यक्ष-परोक्ष का वर्णन

यह नियमसार की ११-१२ वीं गाथाएँ चल रही हैं। उनमें पहले तो ज्ञान के नौ प्रकार बतलाये, फिर उनमें कौन-सा ज्ञान किस जीव को होता है—वह बतलाया; अब उसमें कौन-सा ज्ञान प्रत्यक्ष है और कौन-सा परोक्ष है ? सो कहते हैं।

''यहाँ (ऊपर कहे हुए नौ ज्ञानों के विषय में) सहजज्ञान शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप परमतत्त्व में व्यापक होने से 'स्वरूपप्रत्यक्ष' है और केवलज्ञान 'सकलप्रत्यक्ष' है।''

पहले जो कारणस्वभावज्ञान कहा, वह सहजज्ञान है। आत्मा के शुद्ध अन्तर्स्वरूप में सदैव विद्यमान होने से वह स्वरूपप्रत्यक्ष है। उसकी परम महिमा बतलाते हुए टीकाकार आगे कहेंगे कि यह सहजज्ञान, मोक्ष का मूल है; वह उपादेयरूप है; और उस सहजज्ञान के विलासरूप से आत्मा को भाना चाहिये।

यहाँ सहजज्ञान का 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहकर वर्णन किया है, वह इस नियमसार की मुख्य विशेषता है। कोई ऐसा समझे कि यह 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहा, वह केवलज्ञान का विशेषण है,—तो ऐसा नहीं है; केवलज्ञान को तो 'सकलप्रत्यक्ष' कहकर पृथक् किया है। यह स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान आत्मा में सदैव वर्तता है, वह परम आदरणीय है। तीन अज्ञान तो छोड़ने जैसे ही हैं; चार सम्यग्ज्ञान भी आश्रय करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि उस अपूर्ण ज्ञान के आश्रय से पूर्ण ज्ञान नहीं होता; और केवलज्ञान तो साधक को है नहीं, इसलिये उसका भी आश्रय नहीं होता। साधक को आदरणीय तो परमस्वभावरूप सहजज्ञान ही है; वह ज्ञान स्वरूपप्रत्यक्षरूपसे त्रिकाल वर्तता है और उसका आश्रय करने से केवलज्ञान प्रगट होता है। इसप्रकार केवलज्ञान के ध्रुवकारणरूप ऐसा यह सहज स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान ही आदरणीय है। यह ज्ञान शुद्धतत्त्व में सदैव व्यापक है, उसमें कभी अशुद्धता या आवरण नहीं है, तथा उसका कभी विरह नहीं है।

केवलज्ञान तो एक साथ सकल पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञाता होने से सकल-प्रत्यक्ष है और सहजज्ञान सदैव आत्मस्वरूप में विद्यमान होने से स्वरूपप्रत्यक्ष है। यह स्वरूपप्रत्यक्ष, सो सकल -प्रत्यक्ष का कारण है; इसलिये उसे 'कारणस्वभावज्ञान' अथवा तो 'ज्ञान की कारणशुद्धपर्याय' भी कहते हैं।

प्रश्नः—यह स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान तो केवली भगवान को ही होता है न?

उत्तरः—नहीं; यह ज्ञान तो समस्त जीवों में त्रिकाल विद्यमान है। अज्ञानदशा में भी इस स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान का अस्तित्व होता ही है। किन्तु अज्ञानी को उसका भान न होने से उसे उसका कार्य प्रगट नहीं होता। साधक को उसका भान है; केवलज्ञान होने से पूर्व भी उसे प्रतीति हो गई है कि केवलज्ञान के कारणरूप ज्ञान मुझमें वर्त ही रहा है; उस कारणज्ञान के आश्रय से ही मेरा केवलज्ञानरूप कार्य होगा।—इसके सिवा अन्य कोई मेरे केवलज्ञान का कारण नहीं है। यह सहजस्वभावरूप स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान अंतर्दृष्टि का विषय है; वह सम्यक्त्वी की ही प्रतीति में आता है। इसे 'स्वरूपप्रत्यक्ष' कहते हैं—ऐसे नाम की खबर कदाचित् सम्यक्त्वी को भले न हो, किन्तु

अंतर्मुख वेदन से जो प्रतीति उसे हुई, उसमें इस स्वरूपप्रत्यक्ष की प्रतीति भी आ गई है। यह स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान कहीं आत्मा से पृथक् नहीं है, किन्तु वह आत्मा का ही स्वभाव है; इसलिये आत्मस्वभाव की प्रतीति में वह भी आ जाता है।

जैसे—लैंडी पीपल का स्वभाव चरपरा है और चौंसठ पुटी चरपराहट का प्रगट होना उसका पूरा कार्य है। वह कार्य प्रगट होने से पूर्व भी चौंसठ पुटी चरपराहट प्रगट होने के कारणरूप एक स्वभाव उसमें वर्तमान वर्त रहा है। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और केवलज्ञान प्रगट हो, वह उसका पूर्ण कार्य है; वह कार्य प्रगट होने से पूर्व भी, केवलज्ञान प्रगट होने के कारणरूप स्वभावज्ञान उसमें नित्य विद्यमान शक्तिरूप है; वह सहज है, स्वरूपप्रत्यक्ष है।

मति-श्रुतज्ञान को स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष कहा जाता है, वह यह बात नहीं है; यह तो स्वरूपप्रत्यक्ष की बात है। मति-श्रुतज्ञान जब अंतर्मुख होकर आत्मा का वेदन करते हैं, तब उन्हें इन्द्रियादि का अवलम्बन छूट गया है; इसलिये स्वसंवेदन में उन मति-श्रुतज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा है, वह क्षायोपशमिकभाव से है; और केवलज्ञान, सकलप्रत्यक्ष है, वह क्षायिकभाव है तथा सहजज्ञान 'स्वरूपप्रत्यक्ष' है, वह पारिणामिकभाव से है। इस कारणस्वभावज्ञान में औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव नहीं है।

यह, सहज स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान सदैव पारिणामिकभावरूप से स्थित है; इसलिये वह जानने का कार्य नहीं करता; कारण कि वह कार्यरूप प्रगट नहीं है किन्तु नित्यशक्तिरूप-कारणरूप है; कारणरूप से उसमें पूर्ण सामर्थ्य है और उसके आश्रय से पूर्ण कार्य (केवलज्ञान) प्रगट हो जाता है।

जिसमें कारणरूप से पूर्ण सामर्थ्य है—ऐसा स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान तो समसत जीवों में है; किन्तु उसका जो यथार्थरूप से स्वीकार करे, उसे सम्यग्ज्ञान होकर, अनुक्रम से उसी के आश्रय से सकल-प्रत्यक्ष ऐसा केवलज्ञान प्रगट होता है। और जिसे अपने ऐसे ज्ञान-सामर्थ्य का भान नहीं है और इन्द्रियों को ही अपने ज्ञान के साधनरूप से स्वीकार करता है, वह मूढ़ प्राणी मात्र इन्द्रियज्ञानरूप मिथ्याज्ञान द्वारा संसार में ही भटकता है। इस स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान के स्वीकार द्वारा मोक्ष होता है, इसलिये वह ज्ञान, मोक्ष का मूल है। दसवीं गाथा में जिसे कारणस्वभावज्ञान-उपयोग कहा, उसी को यहाँ स्वरूपप्रत्यक्ष सहजज्ञान कहा है; वह आत्मा का परम स्वभाव है और मोक्ष का मूल है; इसलिये वह उपादेय है।

केवलज्ञान तो नवीन होता है। इस समय साधकदशा में तो उसका विरह है; इसलिये वह स्वरूपप्रत्यक्ष नहीं है। सहजज्ञान तो आत्मा में त्रिकाल अविच्छिन्नरूप से विद्यमान है; उसका कभी विरह नहीं है; इसलिये वह स्वरूपप्रत्यक्ष है।—ऐसा आत्मा का स्वभाव है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। उसके अवलम्बन से जो निर्मलपर्याय नवीन प्रगट हुई, वह भी अभेदरूप से सम्यग्दर्शन के विषय में आ जाती है। निर्मलपर्याय आत्मा के साथ अभेद हैं, इसलिये वह सम्यग्दर्शन के विषय से पृथक् नहीं रहती।

यहाँ आत्मा के ज्ञानस्वभाव का परमपारिणामिकभाव बतलाना है। जिसप्रकार धर्मास्तिकाय, आकाश आदि त्रिकाल पारिणामिकभाव से वर्तते हैं, उसीप्रकार आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव भी त्रिकाल पारिणामिकभावरूप से वर्तते हैं। कर्म की अपेक्षावाले जो चार भाव हैं, वे व्यवहारनय के विषय हैं और पारिणामिकस्वभाव निश्चयनय का विषय है। ज्ञान का जो परमपारिणामिकस्वभाव है, वही केवलज्ञान का आधार है। यहाँ जिसप्रकार ज्ञानगुण की बात की, उसीप्रकार श्रद्धा, आनन्द आदि समस्त गुणों में भी समझ लेना। आगे पन्द्रहवीं गाथा में पूर्ण द्रव्य के पारिणामिकभावरूप शुद्ध पर्याय की बात आयेगी, वह शुद्ध कार्य प्रगट होने का मूल-कारण होने से टीकाकार मुनिराज उसे 'पूज्य परिणति' कहेंगे। यद्यपि सम्यक्दर्शन और केवलज्ञान आदि परिणति भी पूज्य है किन्तु यहाँ तो आत्मा के साथ सदैव वर्तती हुई पूज्य परिणति की बात है, अर्थात् पारिणामिकभावरूप से वर्तती हुई परिणति की बात है।

ज्ञान की पारिणामिकभावरूप से वर्तती हुई सहज परिणति तो स्वरूपप्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सम्पूर्ण-प्रत्यक्ष है। इसप्रकार दो ज्ञानों की बात की, अब शेष ज्ञानों में प्रत्यक्ष-परोक्षपना किस प्रकार है, सो कहते हैं।

'रूपिष्ववधेः' ऐसा सूत्र का वचन होने से अवधिज्ञान विकल-प्रत्यक्ष है अर्थात् वह रूपी पदार्थ को ही प्रत्यक्ष जानता है, और मनःपर्ययज्ञान भी उसके अनन्तवें भाग से वस्तु को जानता है; इसलिये वह विकलप्रत्यक्ष है। साधक का उपयोग जब आत्मा की ओर होता है—तब उसे मति-श्रुतज्ञान होते हैं, अवधि या मनःपर्ययज्ञान का व्यापार उस समय नहीं होता। अवधि और मनःपर्ययज्ञान तो पर विषयों को ही जानते हैं और उनमें भी रूपी पदार्थों को ही जानते हैं। मनःपर्ययज्ञान यद्यपि मन सम्बन्धी सूक्ष्म परिणामों को भी प्रत्यक्ष जानता है, किन्तु वे परिणाम रूपी मन के सम्बन्धवाले होने से उन्हें यहाँ मूर्त माना गया है। इसप्रकार अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान

एक अंश में प्रत्यक्ष हैं। मन:पर्ययज्ञान तो किसी-किसी मुनियों को ही होता है; उसमें महान सामर्थ्य है; तथापि वह भी एकदेश-प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान सकल-प्रत्यक्ष है और अवधि, मन:पर्ययज्ञान विकल-प्रत्यक्ष हैं। मन:पर्ययज्ञान का विषय अवधिज्ञान की अपेक्षा अल्प है, परन्तु वह अवधिज्ञान की अपेक्षा अनन्त गुनी सूक्ष्मता को भी जान सकता है।

'मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परमार्थत: परोक्ष हैं और व्यवहार से प्रत्यक्ष हैं।' यहाँ परविषयों की अपेक्षा से मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है—ऐसा जानना। स्व-विषय की अपेक्षा से तो मति-श्रुतज्ञान भी वास्तव में प्रत्यक्ष हैं। परविषयों को इन्द्रिय और मन के अवलम्बनपूर्वक अस्पष्ट जानते हैं, इसलिये उन ज्ञानों को परोक्ष कहा है और व्यवहार से 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष' जानते हैं, उस अपेक्षा से व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा है किन्तु इन्द्रियों द्वारा जो प्रत्यक्ष हुआ, यह वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं किन्तु परोक्ष ही है, इसलिये निश्चय से वे मति-श्रुतज्ञान पर को परोक्ष ही जानते हैं और स्व-विषय को स्व-संवेदनप्रत्यक्ष जानते हैं; स्व-विषय को जानने में इन्द्रियों का तथा मन का अवलम्बन नहीं है।

सम्यक्दर्शन-ज्ञान होते समय मति-श्रुतज्ञान में आत्मा का जो स्वसंवेदन होता है, उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। आत्मवेदन में तो सम्यक्त्व के मति श्रुतज्ञान भी अतीन्द्रिय हैं, प्रत्यक्ष हैं! निर्विकल्प अनुभव में मति-श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष संवेदन हुए बिना सम्यक्दर्शन नहीं होता। चौथे गुणस्थान में गृहस्थदशा में विद्यमान अविरत सम्यक्दृष्टि को भी निर्विकल्प अनुभवरूप स्व-संवेदनदशा में मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष है। 'पंचाध्यायी' आदि में भी यह बात स्पष्ट की है।

मति-श्रुतज्ञान परविषयों को जानने में इन्द्रिय तथा मन के अवलम्बनपूर्वक वर्तते हैं और वह भी अस्पष्ट जानते हैं; इसलिये उन्हें परोक्ष कहा है। वहाँ अज्ञानी जीव, इन्द्रियों के कारण ही उस ज्ञान का होना मान लेता है। उसकी इस मान्यता का खण्डन-वीरसेनस्वामी ने 'जय धवला' में अत्यन्त सरस युक्ति से कर डाला है। वहाँ तो कहते हैं कि यदि इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति होना मानोगे तो आत्मा के अभाव का प्रसंग आयेगा।

शंकाकार कहते हैं कि—इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण मतिज्ञानादि को केवलज्ञान नहीं कहा जा सकता।

उसके समाधान में कहते हैं कि—ऐसा नहीं है; मतिज्ञानादि इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होते किन्तु सामान्यज्ञान में से वह विशेष आता है। यदि ज्ञान का इन्द्रियों से उत्पन्न होना मान लिया जाये

तो इन्द्रिय-व्यापार से पहले जीव के गुण स्वरूप ज्ञान का अभाव हो जाने से गुणी ऐसे जीव के भी अभाव का प्रसंग आता है।

तब शंकाकार पुनः तर्क करता है कि—इन्द्रिय-व्यापार से पूर्व जीव में ज्ञानसामान्य रहता है, ज्ञानविशेष नहीं रहता; ज्ञानविशेष तो इन्द्रियों के व्यापार द्वारा होता है।—इसप्रकार जीव का अभाव नहीं होता।

उसके समाधान में कहते हैं कि—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि ज्ञानसामान्य से ज्ञानविशेष पृथक् नहीं है। जीव का ज्ञानस्वभाव स्वयं ही विशेषरूप से परिणमित होकर विशेष ज्ञान होता है; इन्द्रियों के कारण विशेष ज्ञान नहीं होता। (देखो, 'कषाय प्राभृत' भाग-१, पृष्ठ ४९-५०)

वहाँ 'कषाय प्राभृत' में प्रकरण तो केवलज्ञान की सिद्धि का है। मतिज्ञानरूप अंश प्रत्यक्ष है उसके ऊपर से केवलज्ञान की सिद्धि की है। वहाँ अंतर की अलौकिक युक्ति देकर आचार्य भगवान केवलज्ञान को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि—केवलज्ञान प्रसिद्ध है—ऐसा नहीं है; क्योंकि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष द्वारा केवलज्ञान के अंशरूप ज्ञान की निर्बाधरूप से उपलब्धि होती है। मति-श्रुतज्ञान, केवलज्ञान के अंशरूप है, और उसकी उपलब्धि स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से सबको होती है। इसलिये केवलज्ञान के अंशरूप अवयव प्रत्यक्ष होने से केवलज्ञानरूप अवयवी को परोक्ष कहना युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने से चक्षु द्वारा जिसका एक भाग प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है ऐसे स्तम्भ की भी परोक्षता का प्रसंग आ जाता है। अहो! मतिज्ञान के स्वसंवेदन में केवलज्ञान का विरह नहीं है.... मतिज्ञान की संधि केवलज्ञान के साथ है; मतिज्ञान का स्वसंवेदनप्रत्यक्ष हुआ, वहाँ केवलज्ञान भी प्रत्यक्ष हो गया। देखो, यह संतों की वाणी!! संतों ने पंचमकाल में केवलज्ञान का विरह भुला दिया है। (-देखो, कषायप्राभृत भाग-१, पृष्ठ ४४-४५)

[श्री 'कषायप्राभृत-जयधवला' के इस विषय पर पूज्य गुरुदेव के अद्भुत प्रवचन 'आत्मधर्म' नं० ३ तथा २२ में प्रकाशित हो चुके हैं; जिज्ञासु उनकी स्वाध्याय करें।]

मति-श्रुतज्ञान को परोक्ष कहने पर भी, वे ज्ञान कहीं इन्द्रियों से नहीं होते; वे भी स्वयं से ही होते हैं। देखो, व्यंजन-अवग्रह मतिज्ञान का छोटे से छोटा प्रकार है, वह भी स्वयं से ही होता है। इन्द्रियों से या शब्दों से ज्ञान होता है, यह बात तो दूर रही! वह तो स्थूल भूल है। यहाँ तो एकदम अंतरंग गहराई की बात है... ज्ञान का मूल कारण क्या है, वह यहाँ बतलाया है... केवलज्ञान का मूल बतलाया है। अहो! परिपूर्ण सामर्थ्यरूप से सदैव प्रवर्तमान स्वरूपप्रत्यक्ष का ज्ञान ही मेरे

केवलज्ञान का कारण है—ऐसा जो जानता है, वह इन्द्रियादि को अपने ज्ञान का कारण नहीं मानता; इसलिये उसे परोक्षता दूर होकर स्वरूपप्रत्यक्षज्ञान के आधार से सकलप्रत्यक्ष ऐसा केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

इसप्रकार ज्ञान के प्रत्यक्ष एवं परोक्षपने का वर्णन किया। अब इन ज्ञानों में से कौन-सा ज्ञान आदरणीय है, सो कहेंगे।

(—इन गाथाओं के जो छह विषय कहे थे, उनमें से तीसरे विषय का विवेचन यहाँ समाप्त हुआ।)

अन्तरोन्मुखता की भावना

('तत्त्वज्ञान-तरंगिणी' श्लोक ७ पर खम्भातनगर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन)

धर्म की जिज्ञासा होने पर जीव विचार करता है कि अरे! मैंने पूर्वकाल में चार गतियों में परिभ्रमण करते-करते बाह्य में महान शत्रुओं पर विजय प्राप्त की, किन्तु अंतर में मोहरूपी शत्रु को कभी नहीं जीत सका। मेरे आत्मा का बाह्य में कोई शत्रु या मित्र नहीं है; मेरा आत्मा तो ज्ञान आनन्दस्वरूप है; मेरे ज्ञान से विरुद्ध ऐसे राग-द्वेष-मोह हैं, वे ही मेरे शत्रु हैं; उन शत्रुओं को पहले मैंने कभी नहीं जीता। अरे, अंतर्मुख होने से चैतन्य की प्राप्ति होती है; ऐसे चैतन्य में अंतर्मुख दृष्टि करके मैंने पहले कभी मोह को नहीं जीता। हजारों योद्धाओं पर विजय प्राप्त की किन्तु मोह को कभी नहीं जीता। अहो! मेरा आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वरूप है;—उसे भूलकर, बहिर्मुखवृत्ति करने में भी जीव स्वाधीन है और अंतर्मुखता में ही मेरा हित है।—ऐसा निर्णय करके जिज्ञासु जीव अंतर्मुख होना चाहता है। बाह्य में कोई मेरा शत्रु या मित्र नहीं है और बहिर्मुखवृत्ति में कहीं मेरा सुख नहीं है;

अंतरोन्मुखता में ही सुख है;—ऐसा निर्णय करके जो अंतर्मुख वृत्ति से सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उन्हें बिना इच्छा के दिव्यध्वनि खिरी; उसमें ऐसा उपदेश आया कि 'अरे जीव! तेरे आत्मा में ज्ञान-दर्शन-आनन्द की परिपूर्ण शक्ति है; अल्पज्ञता तेरा स्वरूप नहीं है।—ऐसे स्वभाव-सामर्थ्य की प्रतीति द्वारा तथा उसमें स्थिरता द्वारा तू मिथ्यात्वादि मोहशत्रु को जीतकर अपने परिपूर्ण ज्ञानादि स्वचतुष्टय को प्राप्त कर।

आत्मा को जाने बिना पूर्वकाल में जीव समस्त बाह्य साधन कर चुका है किन्तु उनसे कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हुई; क्योंकि आत्मा के धर्म का साधन बाह्य में नहीं है; आत्मा में ही ऐसी शक्ति है कि वह स्वयं अपने धर्म का साधन हो। बहिर्मुख वृत्ति से मेरा आत्मा अभी तक आकुलता में दुःखी हुआ, इसलिये अब मैं अपने आत्मा में अंतर्मुख होऊँ;—ऐसा जिज्ञासु जीव विचार करता है।

अंतर्मुख होकर आत्मा की ज्ञानादि शक्तियाँ जहाँ सम्पूर्ण सोलह कलाओं से विकसित हुई कि फिर वे कभी नहीं मुंदती। आत्मा में ही अपने स्वभाव का साधन होने की शक्ति है। बाह्य में शास्त्र आदि आत्मा का साधन होने की शक्ति नहीं रखते। जिज्ञासु विचार करता है कि अरे! पूर्वकाल में मैंने अनंत बार बड़े-बड़े व्याकरण शास्त्रों का अध्ययन किया, व्याख्यान दिये और सत्समागम से सुने; किन्तु शुद्धचिद्रूप आत्मा को कभी नहीं जाना; इसलिये परिभ्रमण करता रहा। बाह्य में मैंने आत्मा को ढूँढ़ा, किन्तु अंतर्मुख होकर कभी अपने आत्मा को पहिचानने का प्रयत्न नहीं किया।

ढाई द्वीप के बाहर असंख्य तिर्यंच हैं; उनमें असंख्य तिर्यंच सम्यक्त्वी भी हैं। अंतर्मुख होकर 'मेरा आत्मा आनन्दस्वरूप है'—ऐसी स्वीकृतिपूर्वक तिर्यंच भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं। उन्हें व्याकरण या शास्त्रों का ज्ञान भले ही न हो, किन्तु शास्त्रों ने जिस शुद्ध आत्मा का वर्णन किया है, वह उनकी प्रतीति में आ गया है। सारे जगत की उपेक्षा और अंतर्मुख होकर आत्मा की अपेक्षा करने से सम्यग्दर्शनादि होते हैं। जीव ने अनादिकाल से अंतर के अवलम्बन से कार्य नहीं किया, बाह्य में ही देखा है। वह लैंडी पीपल की चरपराहट का तो विश्वास करता है किन्तु आत्मा में जो परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति भरी है, उसका विश्वास नहीं करता। इसलिये हे जीव! तू अंतर्मुख होकर अपनी स्वभावशक्ति का विश्वास कर। स्वभावोन्मुख होने पर वीतरागता होती है, और वही सर्व शास्त्रों का तात्पर्य है। बहिर्मुख वृत्ति से जो संसार भ्रमण हुआ है, वह अंतरोन्मुखता से दूर होता है।

''उपजे मोह विकल्पथी समस्त आ संसार;
अंतर्मुख अवलोकतां विलय थतां नहिं बार॥''

बहिर्मुख वृत्ति द्वारा—मोह द्वारा ही यह संसार है और अंतर्मुख वृत्ति से संसार का नाश होकर परम इष्ट मोक्षपद की प्राप्ति होती है। अहो! सर्वज्ञ भगवान ने अंतर्मुख एकाग्रता द्वारा ऐसा परम आनन्दमय इष्ट पद प्राप्त किया है और उन्होंने अंतर्मुख होने का ही उपदेश दिया है। जीव ने पूर्वकाल में कभी अंतर्मुख वृत्ति तो नहीं की किन्तु यथार्थ उल्लासपूर्वक उसका स्वीकार भी नहीं किया; इसलिये जिसे अपना हित करना है—ऐसा जिज्ञासु जीव, सत्समागम से ऐसा विचार करता है कि अरे! मैंने पूर्वकाल में कभी अंतर्मुख होकर अपने आनन्द का अनुभव नहीं किया, इसलिये अब अपने आत्मा को जानकर, उसी में अंतरोन्मुखता करूँ।—ऐसा निर्णय करके आत्मा में अंतर्मुख होना, वह धर्म है और वही इस मनुष्य भव में करने योग्य है।—ऐसा संतों का उपदेश है।

सौ बात की एक बात

अहो! दिगम्बर संतों का कोई भी शास्त्र लो; उसमें मूलभूत एक ही धारा चली जाती है कि तू ''सर्वत्र अपने ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप के सन्मुख हो;'' पर को बदलने की बुद्धि मिथ्या है। स्वोन्मुख होने से ही हित है—इस बात को मुख्य रखकर कोई भी बात कही हो—सर्वज्ञ की ओर से कही हो या क्रमबद्धपर्याय की बात हो; छह द्रव्य, नवतत्त्व, निश्चय-व्यवहार या उपादान-निमित्त की बात हो; द्रव्य-गुण-पर्याय की बात हो या बारह भावनाओं की बात हो;—सभी बातों में संतों का मूल तात्पर्य तो यही बतलाना है कि हे जीव! अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके उस ओर उन्मुख हो! ''मैं तो ज्ञानपिण्ड हूँ; ज्ञान के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का किंचित्मात्र कर्तृत्व मुझमें नहीं है;''—जबतक जीव ऐसा निर्णय न करे, तबतक उसके हित का मार्ग हाथ नहीं आता, और दिगम्बर संतों ने क्या कहा है, इसकी भी उसे खबर नहीं पड़ती। [—पूज्य गुरुदेव]

जामनगर शहर (सौराष्ट्र) में दि० जिन मंदिर के शिलान्यास का भव्य समारोह

पू० श्री कानजी स्वामी की कृपा द्वारा—दि० जैन धर्म की प्रभावना हमेशा बढ़ रही है... और अनेक जगह नये-नये दि० जिन मंदिर बनते रहते हैं। सौराष्ट्र के मुख्य-मुख्य शहर में दि० जैन मंदिर हो चुके हैं किन्तु एक जामनगर जो बड़ा समृद्ध शहर है, वहाँ दि० जैन मंदिर नहीं था—अब वहाँ भी दि० जिन मंदिर बड़े भव्य विशाल रूप में बननेवाला है, उसका शिलान्यास विधिपूर्वक कार्तिक सुदी ७ के दिन अफ्रीका निवासी सेठ भगवानजी कचराभाई के हस्त द्वारा भव्य समारोह के साथ हुआ। अफ्रीका में दि० जैन धर्म का प्रचार हो रहा है, वहाँ के सेठ फूलचन्दभाई करमशी ने ६५०००) रु० तथा श्री भगवानजी भाई ने ५०२५१) रु० मंदिरजी के लिये दिया है, शहर में बड़े ठाठ-बाठ से जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा का जुलूस निकाला था—बाहर गाँव से अच्छी संख्या में जैन भाई आये थे, और बड़ा मंगल उत्सव मनाया था। धन्यवाद है।

सोनगढ़ में चौबीस तीर्थंकर पूजन विधान

ढाई साल पूर्व-पूज्य स्वामीजी-संघ सहित सम्मेदशिखरजी की यात्रा करके सोनगढ़ पधारे थे, तब सिद्धचक्र विधान पूजन बड़े उत्साह से किया था। उसीप्रकार बाहुबलि स्वामी आदि दक्षिण तीर्थों की यात्रा के बाद यहाँ इस कार्तिक मास की अष्टाह्निका के समय २४ तीर्थंकर भगवंतों का मंडल बनाकर बड़े उत्साहपूर्वक पूजन करने में आया था और पूजन विधि पूर्ण होने के बाद श्री सीमंधर जिनेन्द्र का भक्तिपूर्वक अभिषेक करने में आया था।

इस साल में सौराष्ट्र में वडिया, जेतपुर, गोंडल तीन शहर में दि० जिन मंदिर में वेदी प्रतिष्ठा हेतु पूज्य स्वामीजी का विहार करीब डेढ़ मास के लिये होगा। पोष सुदी १५ के बाद विहार करके फाल्गुन सुदी १ सोनगढ़ वापिस आने का प्रोग्राम है।

सस्ते में मिलेगा

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत

पंचास्तिकाय संग्रह

यानी

पंचास्तिकाय शास्त्र

इसका अक्षरशः ठीक रूप में अनुवाद प्रथम बार ही हुआ है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों को एकत्र करके पाँच साल तक उत्तम परिश्रम द्वारा-आचार्यवर श्री अमृतचन्द्र की टीका का अक्षरशः अनुवाद तैयार हुआ है, जो सर्व प्रकार उत्तम और संशोधित व संस्कृत टीका सहित है, टीका के नीचे कठिन विषयों पर अच्छा प्रकाश डालनेवाला विस्तृत फुटनोट भी दिया है, बढ़िया कागज सुन्दर छपाई और मजबूत सुन्दर बाइडिंग सहित सर्व प्रकार से मनोज्ञ और महान ग्रंथ होने पर भी मूल्य ४-५० है पोस्टेजादि अलग (पृ० सं० ३१५) थोक लेने पर कमीशन २५) सें० देंगे।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

[जैन-जैनेतर समाज में अवश्य प्रचार में लाने योग्य यह उत्तम साहित्य है।]

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=)
चिद्विलास	१=)	समयसार पद्यानुवाद	।)
आत्मावलोकन	१)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥-)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम-	३)
द्वितीय भाग	॥-)	आत्मधर्म फाइलें १-३-५-६-७-८-१०-११-१२-१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥-)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।